



□ डा० वीरेन्द्रसिंह एम .ए., पी-एच. डी.
[प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, राज० वि० वि०, जयपुर]

धर्म का वैज्ञानिक विवेचन

पुराण और धर्म-प्रवृत्ति की वैज्ञानिकता

धर्म का क्षेत्र ज्ञान-साक्षात्कार का क्षेत्र है और वैज्ञानिक विचारधारा में ज्ञान का स्वरूप सापेक्ष माना गया है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि धर्म और विज्ञान, मानवीय ज्ञान के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष होने के नाते उनका सम्बन्ध मानवीय चेतना के क्रमिक विकास से सम्बन्धित है। पुराण और मिथकीय प्रवृत्ति का सम्बन्ध भी धार्मिक मनोभाव के विकास के साथ जुड़ा हुआ है और इस सम्बन्ध में हमें कहीं-कहीं पर वैज्ञानिक प्रत्ययों की हल्की-सी झलक मिल जाती है। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि मानवीय चेतना के विकास में अनुभव की तार्किकता लक्षित होने लगती है। कार्य-कारण की यह तर्कना शक्ति वैज्ञानिक मनोभाव की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

पुराण और धर्म का एक तार्किक सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों अनुभव की आधारशिला को लेकर ही विकसित हुए हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर का कथन है कि धार्मिक विचार मानवीय अनुभव से प्राप्त किए गए हैं जो क्रमशः संगठित और परिष्कृत होकर, प्रतीकात्मक रूप में स्थिर हो गए।^१ यह धारणा ब्रह्मा, विष्णु और महेश के स्वरूप विश्लेषण से स्पष्ट होती है कि सृष्टि के तीन तत्त्वों (सृष्टि, सामंजस्य तथा संहार) के आपसी संतुलन से ही विश्व की स्थिति सम्भव है। 'त्रिमूर्ति' की इस धारणा के पीछे मानव की अनुभव शक्तियों पर आश्रित 'तर्कना' का एक ऐसा रूप मिलता है जो प्राचीन मानव को घटनाओं और वस्तुओं के सापेक्ष सम्बन्ध की ओर प्रेरित करता है। इसी प्रकार किसी न किसी देवता की कल्पना एक वैज्ञानिक सत्य का निर्देशन है। प्राणिशास्त्र की दृष्टि से, सृष्टि एवं प्रजनन के लिए 'एक' की सत्ता निष्क्रिय है, उसमें सक्रियता उसी समय आती है जब वह दूसरी विपरीत "सत्ता" से संसर्ग स्थापित करती है। इस दृष्टि से "अर्धनारीश्वर" का महत्त्व भी दर्शनीय है। वेदांत-दर्शन में यह प्राप्त होता है कि 'जब ब्रह्मा को सृष्टि का ईक्षण (कामना) हुआ, तब उसने 'माया' की उत्पत्ति की और सृष्टि कार्य सम्पन्न किया।'^२

उपर्युक्त उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकालना कि सभी धार्मिक प्रस्थापनाओं के पीछे यह 'वैज्ञानिकता' प्राप्त होती है। मैं तो यह मानता हूँ कि वैज्ञानिक दृष्टि से हम धार्मिक तात्त्विक संकेतों को अधिक गहराई से समझ सकते हैं। यह 'गहराई' विश्लेषणात्मक पद्धति के द्वारा स्पष्ट

१ दि फर्स्ट प्रिंसिपल, स्पेन्सर, पृ० १५

२ उपनिषद् भाष्य, खण्ड १, पृ० ५६-५७ (गीता प्रेस)

होती है क्योंकि वैज्ञानिक तर्कना में विश्लेषण और संश्लेषण का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अवतार, लीला तथा ब्रह्म आदि की धारणाएँ विकासवादी सिद्धान्त तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से नये परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित एवं मूल्यांकित की जा सकती हैं।

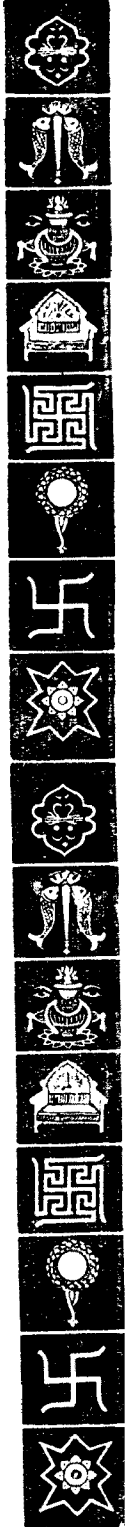
धार्मिक प्रतीकों की वैज्ञानिकता

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में 'अवतार' की धारणा को एक नयी परिदृष्टि प्रदान होती है जो विकास-परम्परा का एक प्रतीकात्मक निर्देश है। विकासवाद सिद्धान्त (Evolution) में चेतना के क्रमिक विकास और शारीरिक संगठन को अन्योन्याश्रित माना गया है। भारतीय दस अवतार प्राणियों के चेतना-विकास के क्रमिक सोपान हैं जिससे यह भी स्पष्ट होता है कि मानव नामधारी प्राणी अन्य मानवेतर प्राणियों से सम्बद्ध है और 'वह' विकास परम्परा में शीर्षस्थ है। प्रथम अवतार मत्स्य है जो नितांत जल में रहनेवाला प्राणी है और दूसरा कूर्म है जो अंशतः जल और धरती दोनों पर रह सकता है, जिसे जीवशास्त्रीय भाषा में एम्फीबियन कहा गया है। यह दूसरी अवस्था पहली अवस्था से ज्यादा विकसित है। वाराह अवतार तक आते स्तनधारी प्राणियों (मैमल्स) का प्रादुर्भाव होता है जो केवल पृथ्वी का ही निवासी है। चौथा अवतार नरसिंह है। इसमें नर के साथ पशु-अंश की विद्यमानता है जिसका उन्नयन 'वामनावतार' में होता है। यदि फिर भी, इस पशु-प्रवृत्ति (रक्त) का अवशेष रह जाता है, वह 'परशुराम' के अवतार में दृष्टव्य है। सातवां अवतार 'राम' है जो परशुराम की अहं प्रवृत्ति का शमन करते हैं। आठवां कृष्णावतार है जिसमें मानव के बहुमुखी व्यक्तित्व का विकास होता है। 'बुद्ध' और 'कल्कि' अवतार 'अतिमानव' (सुपरमैन) के भावी संभावित रूप हैं^३ जो मानव की अन्तर्निहित शक्तियों का क्रमिक साक्षात्कार है। इसी प्रकार ब्रह्म, लीला, द्रव्य आदि की धारणाओं को वैज्ञानिक दृष्टि से समझा जा सकता है। यह तथ्य यह भी स्पष्ट करता है कि ज्ञान का स्वरूप सापेक्ष है और अन्तर-अनुशासनीय है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ज्ञान का क्षेत्र 'सापेक्ष सत्य' के साक्षात्कार का क्षेत्र है और इसका 'आनंद' उस प्रक्रिया में निहित है जो साक्षात्कार तक पहुँचने का माध्यम है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गंतव्य तक पहुँचने की लालसा का आनंद गंतव्य प्राप्त हो जाने पर उसका क्रमशः शमन हो जाना। इस दृष्टि से धार्मिक प्रतीकों का रहस्य भी ज्ञान-परक है। जब यह ज्ञान 'अनुभूति' के संस्पर्श से ऊर्ध्वगामी होता है, तब वह भौतिक क्षेत्र को छोड़कर तात्त्विक क्षेत्र की व्यंजना करता है। विज्ञान भी इसी तात्त्विकता की ओर अग्रसर हो रहा है। अनेक विचारकों ने धार्मिक प्रतीकों या ज्ञान को केवल भौतिक क्षेत्र के अन्दर ही सीमित माना है और उनका महत्त्व केवल नैतिक-मूल्यों तक ही सीमित रखा है। इसके समर्थक कांट, फील्से आदि विचारक हैं। इनके अनुसार यदि नैतिकता के मानदण्डों का निर्माण न हो तो धार्मिक प्रतीकात्मक-दर्शन का विकास ही संभव न हो सकेगा।^४ इस मत में सत्य का केवल एक पक्ष ही है। धार्मिक-दर्शन में नैतिक मूल्यों का एक प्रमुख स्थान है, पर उसके 'ज्ञान' को केवलमात्र 'नैतिकता' के दायरे में बांधा नहीं जा सकता है। सत्य में, नैतिकता का विकास भी विकासवादी परम्परा की सापेक्षता में होता है। नैतिकता के अतिरिक्त, धार्मिक-प्रतीकों में किसी धारणा या आदर्श का अव्यक्त रहस्य और ऊर्ध्वगामी अभियानों का दिग्दर्शन होता है। ईश्वर, आत्मा, अनंत अथवा निरपेक्ष (एब्सोल्यूट Absolute) की धारणाओं का हृदयंगम केवल नैतिक मान्यताओं के द्वारा नहीं हो सकता है। दूसरा वर्ग उन

३ दे० पुरानाज इन दि लाइट आफ माडर्न साइंस, के० एन० अय्यर, पृ० ५०-६०

४ लैंग्वेज एण्ड रियाल्टी, अरबन, पृ० ६००

आचार्य प्रवृत्तसु अभिनेतु आचार्य प्रवृत्तसु अभिनेतु
श्री आनन्दरौ अथर्व श्री आनन्दरौ अथर्व



३७० धर्म और दर्शन

विचारकों का है जो धर्म को केवलमात्र भौतिक अनुभाव तथा प्रयोग का विकसित रूप मानते हैं। इस मत के पोषक ली रो (Le Roe), विलियम जेम्स तथा रसेल आदि विचारक हैं। इन विचारकों ने इसाई-धर्म की अनेक रूढ़ियों एवं मान्यताओं का विश्लेषण करने के बाद इस निष्कर्ष को सामने रखा है कि धार्मिक प्रतीकों तथा मान्यताओं का सर्वप्रथम महत्त्व उनके अर्थ में समाहित है जो अनुभव के तथा प्रयोग-पद्धति के द्वारा विकसित हुए हैं। केवलमात्र 'अनुभव' ही किसी मान्यता अथवा प्रस्थापना की सत्यता का मापदण्ड है।^५

इस सिद्धांत के पक्ष में कहा जा सकता है कि इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है क्योंकि ज्ञान का आरम्भ एवं विस्तार अनुभव पर ही आश्रित है। परन्तु इसका क्षेत्र, जैसा कि इन विचारकों ने बताया है, केवलमात्र भौतिक ही है और मैं किसी सीमा के बाद इससे सहमत नहीं हूँ। जहाँ तक भौतिकता का प्रश्न है, उससे भी मेरा कोई मतभेद नहीं है। परन्तु अनुभव का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। वह केवल भौतिक प्राचीरों (ऐंद्रियजन्य) के अन्दर ही सीमित नहीं है। उसका क्षेत्र भौतिकता से परे, तात्त्विकता का भी क्षेत्र है। इस क्षेत्र में आकर 'अनुभव', भौतिकता की परिधि को छोड़कर 'अनुभूति' (इन्ट्यूशन Intuition) के क्षेत्र के प्रवेश करता है। समस्त मानवीय ज्ञान इसी 'अनुभूति' के क्षेत्र को किसी-न-किसी रूप में स्पर्श करते हैं।

धर्म और आत्मज्ञान

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि धार्मिक प्रतीक तथा प्रत्यय जहाँ अनुभव की परिधि को स्पर्श करते हैं, वहीं वे तत्त्व-चिन्तन की भावभूमि को छूते हैं। अतः दृश्यमान भौतिक क्षेत्र से अदृश्यमान तात्त्विक क्षेत्र तक एक क्रमागत सम्बन्ध है जिसमें नैतिक तथा अन्य प्रकार के अनुभवों का एक अभिन्न योगदान है। दृश्य अथवा भौतिकता का यहाँ तिरोभाव या नकार नहीं है, पर उसका उचित तथा अर्थवान सन्निवेश है। आधुनिक वैज्ञानिक-चिन्तन भी भौतिकता से क्रमशः अदृश्य प्रत्ययों की ओर गतिशील हो रहा है। परमाणु, ऊर्जा (Energy) ईथर, दिक्, काल तथा गुरुत्वाकर्षणशक्ति आदि ऐसे ही प्रत्यय हैं जो अदृश्य कल्पनाएँ हैं जिन पर विज्ञान (भौतिकी और गणित आदि) की तात्त्विकता दृष्टिगत होती है। आधुनिक 'पदार्थ' (या जैन शब्दावली में "द्रव्य") का स्वरूप नितान्त भौतिक नहीं रह गया है, यहाँ तक कि दिक् और काल को भी पदार्थ का रूपान्तर माना गया है। बट्रेन्ड रसेल का तो यहाँ तक कथन है कि पदार्थ वह है जहाँ तक 'मन' अन्तिम रूप से पहुँच न सके।^६ आधुनिक विज्ञान की यह धारणा एक तात्त्विकता की ओर संकेत करती है और ज्ञान के एक ऐसे पक्ष की ओर संकेत करती है जिसे हम आत्मिक या आध्यात्मिक-ज्ञान की संज्ञा देते हैं।

ज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और उसी की व्यापकता पर "यथार्थ" का स्वरूप स्पष्ट होता है। सत्य और यथार्थ का स्वरूप निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है और सापेक्षता की दशा में कोई भी प्रत्यय या प्रतीक किसी 'अन्य' से सम्बन्धित होकर ही अपनी अर्थवत्ता प्रकट करता है। सत्य का सापेक्षिक साक्षात्कार मूलतः ज्ञानपरक 'आस्था' पर ही आधारित है। कोई भी ज्ञान-क्षेत्र (चाहे वह धर्म हो या विज्ञान आदि) बिना 'आस्था' के पंगु रह जाता है और आत्मज्ञान की प्रक्रिया में यह आस्था तथा विश्वास का तर्कसम्मत रूप ही मान्य है। यह आस्था का प्रश्न मूलतः 'प्रतिबद्धता' (Commitment) का प्रश्न है जो हमारे कार्यों, विचारों तथा व्यवहारों को

५ इस विचारधारा को 'प्रीगमेंटिज्म' कहते हैं जो वैज्ञानिक पद्धति का दार्शनिक रूप है।

६ फिलासिफिकल एस्पेक्ट्स आफ माडर्न साइंस, सी० ई० एम० जोड, पृ० ६१.

नियन्त्रित और दिशा संकेत करती है। यह प्रतिबद्धता ही मानवीय उत्तरदायित्व की एक सबल भूमिका है, यदि वह हमें उचित गंतव्यों की ओर ले जाती है। इस दृष्टि से आस्था और प्रतिबद्धता अन्योन्याश्रित हैं। यह आस्था एक अन्तर्दृष्टि का विषय है जो हमें आत्मज्ञान के निकट ले जाती है। विज्ञान एक विश्लेषणात्मक ज्ञान है और विश्लेषण-पद्धति में हम 'घटकों' का सूक्ष्म साक्षात्कार करते हैं जो "पूर्ण" के ही अंग हैं। आत्मज्ञान का स्वरूप भी उसी समय स्पष्ट होता है जब हम अंशों, घटकों और स्तरों का क्रमिक अवगाहन करते हैं। इसीसे गीता ने आत्मज्ञान का विस्तार समस्त विश्व में माना है अथवा यह 'ज्ञान' ही समस्त विश्व को अपने अन्दर ही समेटे हुए है और समस्त विश्व उसी ज्ञान से प्रकाशित हो रहा है।

सर्गणामादिरन्तश्च मध्यं चंवाहमर्जुन !

आध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥७

अर्थात् 'हे अर्जुन, 'मैं' ही समस्त सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त हूँ, समस्त विद्याओं में मैं आत्म या आध्यात्मिक विद्या हूँ; शब्दों के द्वारा जो सिद्धान्त बनाए जाते हैं, मैं ही वह सिद्धान्त हूँ जो सत्य का प्रतिपादन करते हैं।' यही सत्य की खोज धर्म का ध्येय है (और ज्ञानों का भी यही लक्ष्य है) और यहाँ पर हम 'धर्म' के सही रूप को प्राप्त करते हैं जो ज्ञानपरक है। ज्ञान का यह विस्तृत स्वरूप निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है, वह सत्य में, विभिन्न आयामों को अपने अन्दर समाविष्ट करता है। 'धर्म' का ज्ञान भी निरपेक्ष नहीं है, उसकी मान्यताएं भी नवीन ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में परीक्षित होती हैं। आज के नित नए विकसित होते हुए ज्ञान-क्षेत्रों के संदर्भ में हम 'धर्म' को केवल उसकी परम्परागत-धारणा की प्राचीनों से आबद्ध नहीं कर सकते हैं।

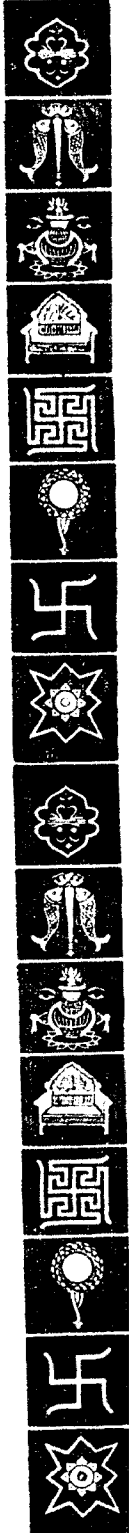
उपासना का स्वरूप

संसार के सभी धर्मों में उपासना का कोई न कोई रूप अवश्य प्राप्त होता है; और यह उपासना 'धर्म' की धारणा का एक आवश्यक अंग है। यहाँ पर इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि जिस प्रकार सौंदर्य, कला की बपौती नहीं है, उसी प्रकार 'उपासना' का सम्बन्ध केवल धर्म से नहीं जोड़ा जा सकता है, क्योंकि 'उपासना' तो सभी ज्ञान-क्षेत्रों का एक आवश्यक तत्त्व है। उपासना एक ऐसी 'मनोदशा' है जो आंतरिक 'प्रकाश' को प्रकट करती है, जिसमें व्यक्ति अपनी 'अस्मिता' को पहचानता है। उपासना एक ऐसी तल्लीनता है जो 'ज्ञान' के रहस्यों का उद्घाटन कर, 'अस्मिता' का साक्षात्कार कराती है। यही कारण है कि हिन्दू धर्म में इस 'अस्मिता' के प्रति सबसे अधिक बल दिया गया है और 'आत्मज्ञान' के साक्षात्कार को 'अस्मिता' का ही साक्षात्कार कहा गया है। धर्म का चाहे और कोई महत्त्व हो या न हो, पर 'अस्मिता' के साक्षात्कार का वह एक सबल माध्यम है। धर्म का इतिहास मानव-मन के इसी अभियान का इतिहास है। धर्म के प्रतीक और धारणायें इसी आत्मसाक्षात्कार के माध्यम हैं और जहाँ तक 'प्रतीक' का सम्बन्ध है, वह धर्म, दर्शन, कला-विज्ञान और अन्य ज्ञान-क्षेत्रों का एक अभिन्न अंग है। प्रतीक का इतिहास ज्ञान के विकास का इतिहास है और ज्ञान का नित्य विकास प्रतीकों का सृजन एवं विस्तार ही है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आदिमानवीय दशा में भी प्रतीकों का एक देश से दूसरे देश या स्थान में गमन की प्रकिया (Migration) एक ऐसा सत्य है जो मानवीय इतिहास से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। स्वास्तिक, क्रास, त्रिशूल और अनेक पूजा-

७ श्रीमद्भगवद्गीता, विभूतियोग, पृ० ३६५

८ आर्ट एण्ड दि साइन्टिफिक थॉट, मार्टिन जॉनसन, पृ० १२०

आचार्यप्रवचन अभिनन्दन आचार्यप्रवचन अभिनन्दन
श्रीआनन्दश्री अन्धेन्द्र श्रीआनन्दश्री अन्धेन्द्र



प्रतीकों का इतना गहरा सम्बन्ध है कि विद्वानों ने इनके अस्तित्व को एकदेशीय न मानकर अंतर्देशीय माना है।

इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि धर्म, दर्शन, विज्ञान, कला, साहित्य और समाजशास्त्र आदि के प्रतीकों का प्रयोग किसी एक ज्ञान-क्षेत्र से ही सम्बन्धित नहीं है, वरन् उनका प्रयोग अनेक क्षेत्रों में होता आया है और आज भी होता जा रहा है। यह एक ऐसा क्षेत्र है जो विज्ञान, धर्म और कला के आपसी संवादों को, एक निश्चयात्मक भावी संभावना के रूप में प्रस्तुत करता है। अतः इस सत्य को ध्यान में रखकर जब हम यह देखते हैं कि 'प्रतीकों' को लेकर हम आपस में लड़ते हैं, तो यह संघर्ष कितना बेमानी हो जाता है। प्रतीकोपासना का यह रूप इस बात की ओर संकेत करता है कि उपासना में हम प्रतीक के स्वरूप का साक्षात्कार करते हैं जो हमें किसी न किसी रूप में 'सत्य' के निकट ले जाता है। सत्य के प्रति इस प्रकार की सही दृष्टि विभिन्न धर्मों के 'प्रतीकों' में संघर्ष की स्थिति को कम ही करेगी। प्रतीकोपासना का अर्थ उनका संघर्ष नहीं है, पर उनका आदर और सम्मान है। यही वैज्ञानिक दृष्टि है जो तर्क एवं विवेक के आधार पर एक अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है। प्रतीकों का अन्तर्गमन भी यही सिद्ध करता है जिसकी ओर ऊपर संकेत किया गया।^९

धर्म : एक वस्तुगत समस्या

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि कोई भी मानवीय क्रिया निरपेक्ष नहीं होती है और उसकी सापेक्षता किसी न किसी वस्तु या प्रत्यय से होती है। इस दृष्टि से धर्म और विज्ञान का सम्बन्ध तथा महत्त्व मानव-सापेक्ष ही है। आधुनिक मानव की वैज्ञानिक-परिदृष्टि के द्वारा वस्तुगत ताकिकता की जो दृष्टि प्राप्त हुई है, उसने धर्म को एक वस्तुगत समस्या के रूप में भी स्वीकार किया है। या तु या मैजिक और धर्म का सम्बन्ध एक ऐतिहासिक सम्बन्ध है और धर्म के विकास के साथ यह तथ्य भी स्पष्ट होता है कि धर्म, मानव और उसके परिवेश की क्रिया-प्रतिक्रिया का फल है। धर्म का सम्बन्ध मानवीय-भाग्य से जुड़ा है और साथ ही धर्म भी एक सबल मानवीय-जीवन पद्धति है क्योंकि 'धर्म' का तात्पर्य है जो धारण किया जा सके। यह धारण करने की प्रक्रिया ही मानव-जीवन सापेक्ष है और धर्म, यदि उसे आज की ताकिकता एवं बौद्धिकता में गतिशील होना है तो उसे यथार्थ की कठोर भूमि को स्पर्श करना होगा। यह यथार्थ मानवीय आस्था से प्रतिबद्ध है और आस्था का बल आज की वैज्ञानिक प्रगति से टूटता जा रहा है। धर्म और विज्ञान का पारस्परिक-सम्बन्ध इसी 'आस्था' को मानवीय-संदर्भ में रेखांकित करना है। यहाँ पर जे० हक्सले का मत है कि धर्म का रोल समाज-सापेक्ष है, और इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह ईश्वर की भावना का त्याग करे^{१०} और उसका कहना है कि जिस प्रकार असुर, अम्सराएँ और मिश्रित देवताओं (Hybrid Gods) का विलोप होता जा रहा है, उसी प्रकार ईश्वर की धारणा का भी विलोप होता जा रहा है।^{११}

ऊपर से तो यह बात नितांत सत्य है, क्योंकि आज के मूल्यों में जो विघटन की प्रवृत्ति

९ प्रतीकों के इस अन्तर्गमन के विस्तृत विवेचन के लिए देखें, डा० जगदीश गुप्त की प्रसिद्ध पुस्तक "प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला", पृ० ४००-४२०

१० ईश्वर के नाम पर जो अंधविश्वास चल पड़े हैं उनका त्याग आवश्यक है, ईश्वरत्व की भावना का नहीं। (सम्पादक)

११ मैं इन दि माडर्न वर्ल्ड, जे० हक्सले, पृ० १३५

लक्षित हो रही है, वह हर वस्तु को अस्वीकार की मुद्रा में स्वीकारती है। परन्तु मैं यह समझता हूँ कि ईश्वर की धारणा भी स्थिर धारणा नहीं है, वह भी विकासोन्मुख धारणा है। आज का वैज्ञानिक-दर्शन 'ईश्वर' को एक धारणा के रूप में स्वीकार करता है और उसे निरपेक्ष न मानकर सापेक्ष मानता है। मानवीय विकास-क्रम की सापेक्षता में 'ईश्वर' की भावना परिवर्तित एवं परिवर्द्धित होती रही है। जैसा कि अन्यत्र संकेत किया जा चुका है कि किसी भी 'प्रतीक' के क्षेत्र को केवल एक ज्ञान-क्षेत्र में ही सीमित कर देना, उस प्रतीक की अर्थ-सम्भावनाओं को सीमित या कुंठित कर देना है। आज के बौद्धिक युग में मानवीय चिंतन के क्षेत्र में सत्यों की समरसता, एक अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है^{१२} और धर्म तथा विज्ञान के सत्यों में भी समरसता अपेक्षित है। जहाँ तक इन दोनों क्षेत्रों का सम्बन्ध है, इन दोनों के अनेक सिद्धान्तों एवं प्रस्थापनाओं में विरोध एवं समानताएँ हैं और यह बात भी ध्यान में रखनी आवश्यक है कि सिद्धान्तों का संघर्ष कोई विनाश का सूचक नहीं है, पर यह संघर्ष तो एक ऐसा अवसर है जो जीवन-मूल्यों के प्रवाह को एक नई गति प्रदान करता है। रूपों के प्रवाह में जीवन को व्यवस्थित एवं सुरक्षित किया जा सकता है। आधुनिक-धर्म की प्रवाहमयता जीवन के इसी प्रवाह को हृदयंगम कर सकती है और दूसरी ओर विज्ञान की अतिबौद्धिकता को आस्था एवं आस्तिकता के संस्पर्श से सरस एवं बोधगम्य बना सकती है। मेरी तो यह मान्यता है कि विज्ञान धर्म की आस्था को और धर्म को विज्ञान की तार्किकता को इस प्रकार समाहित करना होगा कि दोनों एकाकार हो जाएँ। ज्ञान के क्षेत्र में हठधर्मिता की 'पिघलन' अत्यन्त आवश्यक है और आज का बुद्धिजीवी अपने-अपने दायरों में इतना हठधर्मी हो गया है कि वह अपने क्षेत्र को ही एकमात्र सत्य-क्षेत्र मानता है। जीवन के मूल्यों को किसी विशिष्ट सांचे में सदा ढाला नहीं जा सकता है अथवा दूसरे शब्दों में, जीवन की प्रवाहमयता को किसी एक दिशा में बांध देना, उसके प्रवाह को कुंठित ही नहीं करना है, पर उसे उसकी 'चेतना' से अलग कर देना है। इस संदर्भ में धार्मिक-अनुष्ठानों के प्रति अविश्वास का प्रश्न ही नहीं उठता है, वरन् उनके यथोचित सम्मान का प्रश्न अवश्य है। किसी भी धार्मिक अनुष्ठान एवं संस्कार का सम्मान इसलिए करें कि अनुष्ठानकर्ता उसे कितनी सचाई से करता है।^{१३} 'सचाई' के प्रति उसकी प्रतिबद्धता ही उसकी परीक्षा है। ज्ञान का चाहे कोई भी क्षेत्र क्यों न हो, यदि वह सचाई के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है, तो वह अपने में ही सिमटकर शुतुरमुर्गीय-प्रवृत्ति का हो जाएगा। यह शुतुरमुर्गीय-प्रवृत्ति ज्ञान के लिए एक खतरनाक प्रवृत्ति है जो ज्ञान को कुंठित कर देती है।

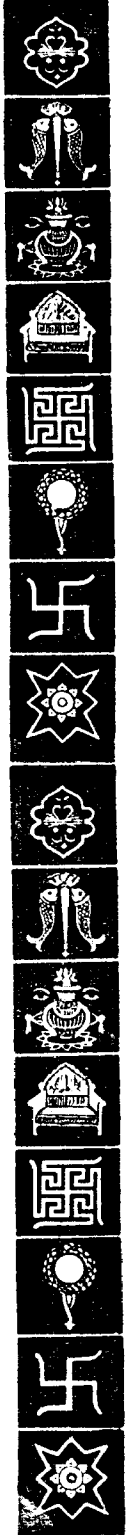
अतः ज्ञान-क्षेत्रों के लिए आस्था एक आवश्यक तत्त्व है जो धर्म के प्रतीकों तथा मान्यताओं में भी दृष्टव्य है। यही रूप 'ईश्वर' और 'आत्मा' की धारणाओं में मिलता है। अद्वैतवाद, जो धर्म तथा दर्शन का मुख्य विवेच्य रहा है, वह आधुनिक विज्ञान की प्रस्थापनाओं के द्वारा पुष्ट होता जा रहा है। बट्रेन्ड रसेल, फ्रेड हॉयल, डा० आइन्स्टाइन आदि विज्ञान-दार्शनिकों ने विज्ञान के अद्वैत-दर्शन की ओर संकेत किया है जो यथार्थ और आदर्श का समन्वित रूप है। इस दृष्टि से हम इस विचारधारा को आदर्शवाद के ही अधिक निकट पाते हैं। पदार्थ का ऊर्जा (Energy) में और ऊर्जा का पदार्थ में 'रूपान्तरण', उनमें 'एकत्व' की स्थिति को स्पष्ट करता है जो दार्शनिक शब्दावली में 'अद्वैत' का ही रूप है।

विज्ञान और धर्मशास्त्र

यहाँ पर एक प्रश्न और उठता है। योरूप में इस शताब्दी के आरम्भ में और आगे चलकर

१२ साइंस एण्ड दि माडर्न वर्ल्ड, ए० एन० ह्वाइट हेड, पृ० १८५

१३ दि ह्यूमन डेस्टनी, ली काम्ते ड्यू न्यू, पृ० १२७



आचार्य प्रवृत्ति अभिनन्दनी आचार्य प्रवृत्ति अभिनन्दनी
श्रीआनन्दरत्न अन्धेरी श्रीआनन्दरत्न अन्धेरी

भौतिकी के अनेक सिद्धान्तों ने, वैज्ञानिकों के मन में यह विचार प्रतिष्ठित कर दिया कि वैज्ञानिक प्रस्थापनाएं धर्मशास्त्र के सृष्टि विषयक सिद्धान्तों की पुष्टि करती हैं। यह मत किसी सीमा तक सही माना जा सकता है, पर योरूपीय इतिहास में रूस की क्रान्ति और विश्व-युद्धों की विभीषिका ने वैज्ञानिकों और बुद्धिजीवियों को भीरु बना दिया जिसके फलस्वरूप वे रूढ़िवादी तथ्यों की ओर गतिशील हुए। वैज्ञानिकों की यह भीरुता इस तथ्य की ओर भी ध्यान आकर्षित करती है कि चर्च और राजतन्त्र के आधिपत्य के कारण वैज्ञानिकों का उनके सिद्धान्तों के विरोध में कुछ भी कहना, ईश्वर के आदेश का उल्लंघन करना था। गैलीलियो, ब्रूनो, डार्विन आदि अनेक वैज्ञानिक-दार्शनिकों के साथ नृशंस व्यवहार ही नहीं किया गया, पर गैलीलियो को मृत्युदण्ड भी दिया गया। उसका अपराध केवल यह था कि धर्म की मनोकल्पित परम्परागत-धारणा को उसने वैज्ञानिक आविष्कारों के द्वारा खण्डित किया। गैलीलियो ने सूर्य को सौर मण्डल का केन्द्र माना था। इसी प्रकार डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त ने मानव को ईश्वर का दिव्य अवरोहण न मानकर मानव को अन्य मानवतर प्राणियों की शृंखला से जोड़कर, मानव को विकास-क्रम का सबसे विशिष्ट जीवधारी घोषित किया। इस सिद्धान्त ने 'ईश्वर' की अलौकिक रूपात्मक धारणा के प्रति एक प्रश्नचिह्न लगाया। धर्म एवं विज्ञान के इस संघर्ष को मठाधीशों ने अपनी सत्ता का अन्त माना और फलस्वरूप, ज्ञान के नव क्षितिजों को उद्घाटित न होने से लिए उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। वे यह भूल गए कि ज्ञान की गत्यात्मकता का अवरोध एक अपराध है और वैज्ञानिक-दार्शनिकों, अन्वेषकों, सर्जकों और बुद्धिजीवियों को 'ज्ञान' के उद्घाटन में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप एक ऐसा अपराध है जिसे इतिहास कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता है।

धर्मशास्त्रों की सृष्टि-रचना और इसके साथ विज्ञान का सृष्टि-सिद्धांत एक तथ्य की ओर संकेत करता है कि आदितत्व के रूप में कुछ न कुछ अवश्य था। तर्क के आधार पर भी यही कहा जा सकता है कि अस्तित्व किसी न किसी 'भविता' की धारणा को स्वीकार करता है। धर्मशास्त्रों में इस भविता को कोई न कोई 'नाम' दिया गया है जैसे ब्रह्मा, मृत्तिका, पिंड, ईश्वर आदि। सृष्टि का विस्फुरण इन 'तत्त्वों' से होता तो है, पर यह विस्फुरण अनेक कौतूहलों एवं आश्चर्यों से भरा हुआ है, और कभी-कभी ऐसा लगता है कि यह क्या इन्द्रजाल है? विज्ञान और धर्म का पारस्परिक सम्बन्ध यहाँ पर दृष्टिगत हो सकता है, क्योंकि वैज्ञानिक चिंतन से इस इन्द्रजाल को एक नई दृष्टि से समझा जा सकता है। आदितत्व या आदि कारण की धारणा को समझने के लिए विज्ञान द्वारा प्रतिपादित अनिश्चितता के सिद्धांत को विवेचित करना आवश्यक है। हिजिनबर्ग ने १९२८ में पहली बार भौतिकी के क्षेत्र में इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस सिद्धांत के अनुसार यह माना जाता है कि किसी कण की स्थिति और उसके संवेग का निश्चित निर्धारण असंभव है। प्रत्येक निर्धारण में कुछ न कुछ त्रुटि रह ही जाती है। यह सिद्धांत सृष्टि-विषयक प्रस्थापनाओं को अनिर्धारण की स्थिति में मानता है और इसके साथ ही साथ, इस सिद्धांत के प्रकाश में यह भी स्पष्ट होता है कि दिशा और काल सम्बन्धी हमारे पुराने यंत्र आधुनिक भौतिकी की आवश्यकता के लिए अपर्याप्त हैं।^{१४} आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति ने दिक्काल की धारणा को एक नवीन आयाम प्रदान किया है क्योंकि आइंस्टाइन के सापेक्षवादी सिद्धांत ने इन धारणाओं का सापेक्षिक महत्त्व स्वीकार किया है। आइंस्टाइन ने यह माना है कि जहाँ साबुन के बुलबुले की दो विभाएँ या आयाम हैं, वहीं विश्व-बुद्बुद के चार आयाम हैं—तीन आयाम दिक् के और एक आयाम काल

का। यही नहीं, विश्व-रहस्य और सृष्टि के विषय में यह प्रस्थापना एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करती है कि 'जिस द्रव्य से यह बुद्बुद् बनाया गया है वह साबुन की फिल्म है जो शून्य आकाश का पर्याय है और साथ ही जिसकी झलाई शून्य काल पर की गई है। शून्य की यह अवधारणा धर्मशास्त्र के अनेक सिद्धांतों के समकक्ष बैठती है। तांत्रिकों का शून्य तत्त्व और उपनिषदों का ब्रह्म या नेति-नेति तत्त्व—इसी शून्य की प्रतिध्वनि है। इसे ही हाइड्रोजन का गोलाकार पिंड भी कह सकते हैं क्योंकि सृष्टि क्रम यहीं से आरम्भ माना गया है। इस वैज्ञानिक प्रस्थापना में 'हाइड्रोजन' एक द्रव्य के रूप में माना गया है और इस पिंड की चक्राकार गति क्रमशः संकोचन प्रक्रिया के द्वारा ठंडी होती गई और फलतः ग्रहों का निर्माण होता गया।^{१५} अतः सृष्टि रचना एक निरन्तर गतिशील प्रक्रिया है और धर्म में इस प्रक्रिया का कारण किसी 'आदि तत्त्व' को माना गया है। परन्तु विज्ञान में यह 'आदितत्त्व' (ब्रह्म, ईश्वर आदि) एक द्रव्य या पृष्ठभूमि-पदार्थ के रूप में मान्य है जो एक प्रक्रिया का फल है।

धर्मशास्त्र के उपर्युक्त स्वरूप के प्रकाश में जेस्पर्स का एक महत्त्वपूर्ण कथन है जो ईश्वर और धर्मशास्त्र के आपसी सम्बन्ध को रूपायित करता है। वह कहता है कि ईश्वर की परिकल्पना ही धर्मशास्त्र का विषय है अथवा दूसरे शब्दों में, ईश्वर की परिकल्पना को ही धर्मशास्त्र कहा जा सकता है।^{१६} इसका तात्पर्य यह हुआ कि धर्मशास्त्र का क्षेत्र भी बौद्धिक अवधारणा का क्षेत्र है जो एक ऐसी भाषा का सृजन करता है जो प्रतीकों और जेस्पर्स के शब्दों में 'साइफर' (cypher) की सृजन-प्रक्रिया से गुजरता है। ज्ञान का कोई भी क्षेत्र 'सृजन' प्रक्रिया के इस महत्त्वपूर्ण दौर से अवश्य गुजरता है। क्योंकि ज्ञान की प्रक्रिया एक सृजन-प्रक्रिया है।

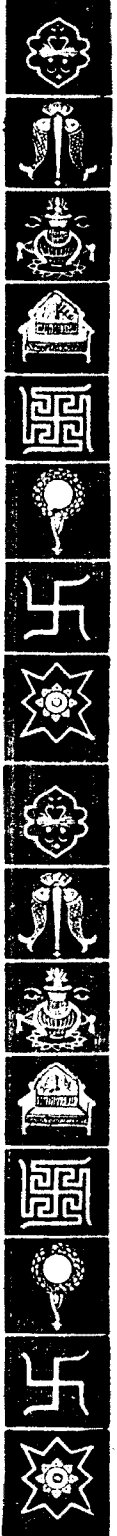
दैवी शक्ति की धारणा

धर्मशास्त्र के इस भाषागत स्वरूप को ध्यान में रखकर ज्ञान के सापेक्ष महत्त्व का ही प्रतिपादन होता है और इसके साथ ही साथ विकासवादी परम्परा के द्वारा भी इसकी पुष्टि होती है। जब विकासवाद एक नया सिद्धान्त था, तब उसे धर्म का विरोधी माना गया था परन्तु चिंतकों का एक ऐसा वर्ग उदित हो गया है जो विकास क्रम में क्रमशः प्रकट होती हुई दैवी-शक्ति को मानता है जिसके अनुसार ईश्वर की धारणा विकास-क्रम से जुड़ी हुई है और इस दृष्टि से, ईश्वर कोई निरपेक्ष तत्त्व न होकर एक सापेक्ष धारणा है। इसके विपरीत एक वर्ग ऐसा भी है जो इस विकास-क्रम को जीवित जैविक-अंगों का एक दुर्बोध संयोजन मानते हैं। इसके अनुसार विकास-क्रम के द्वारा हम अपने ही प्रयोजनों की पूर्ति करते हैं और इस दृष्टिकोण के द्वारा हम ईश्वर के प्रयोजनों की पूर्ति करते हैं। विकासवादी-सिद्धान्त की यह एक विशेषता है कि वह मानव नामधारी प्राणी को एक विशिष्ट परिप्रेक्ष्य में देखता है और उसे विकास-क्रम का सबसे विशिष्ट प्राणी मानता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो विकास का प्रयोजन यह विशिष्टीकृत 'मानव' ही है और 'ईश्वर' का (या अन्य किसी धारणा का) प्रत्यय उसकी अवधारणा की शक्ति का फल है। अतः व्यक्तिगत रूप से मैं विकासवादी सिद्धांत को इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानता हूँ, क्योंकि इस मत में ईश्वर और मानव का सापेक्ष सम्बन्ध है, और ईश्वर, मानव की बौद्धिक प्रक्रिया का एक अवधारणात्मक प्रत्यय ही है। धर्म में ईश्वर का यही अवधारणात्मक रूप प्राप्त होता है और ईश्वर का साकार रूप, मानव की उसी महत्ता को स्वीकार करता है। धार्मिक 'परम तत्त्व' की भावना भी इसी तथ्य की ओर

१५ द नेचर आफ यूनीवर्स 'फ्रेड हॉयल, पृ० ६२

१६ ट्रुथ एण्ड सिम्बल, जेस्पर्स, पृ० ७५

आचार्य प्रवचन अभिनन्दन आचार्य प्रवचन अभिनन्दन
श्री आनन्द श्रेष्ठ अर्थद्वय श्री आनन्द श्रेष्ठ अर्थद्वय



संकेत करती है। अन्तर केवल इतना है कि धर्म में ईश्वर या ब्रह्म का स्वरूप निरपेक्ष एवं निरालम्ब स्थिति का द्योतक है जिसे सिद्धों तथा नाथों की 'निरति' दशा का पर्याय माना जा सकता है।

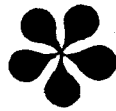
भौतिकी से जीव-विज्ञान तक की यात्रा एक दिलचस्प दशा की ओर संकेत करती है। इस यात्रा के प्रकाश में हम क्रमशः एक ब्रह्मांडीय विषय से एक संकीर्ण क्षेत्रीय विषय का साक्षात्कार करते हैं। भौतिकी और ज्योतिष के द्वारा हम एक विस्तृत और व्यापक विश्व के रहस्यों के प्रति सचेत होते हैं, न कि 'विश्व' के केवल एक कोने का जिस पर कि हम रह रहे हैं। धर्म में केवल पृथ्वी की ही कल्पना नहीं है, पर पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य लोकों तथा नक्षत्रों की भी एक बलवान परम्परा प्राप्त होती है जो ऊपर से देखने पर एक वितंडा के समान लगती हो, पर गहराई में जाने पर यह स्पष्ट होता है कि ये सभी धार्मिक कल्पनाएं विश्व के एक अत्यंत व्यापक परिवेश को उजागर करती हैं। सृष्टि-रचना में इस व्यापक विश्व की संरचना पर विचार किया जा चुका है जो विश्व की गहनता के साथ दिक् और काल के चतुर्आयामिक-विश्व के अगाध स्वरूप को उद्घाटित करती है। विज्ञान भी विश्व की इसी अगाधता का अवगाहन करना चाहता है और धर्म तथा दर्शन का ध्येय भी इसी अगाधता का साक्षात्कार करना है—अंतर केवल पद्धति और दृष्टि का है। सृष्टि की इस व्यापकता को ध्यान में रखकर इसके प्रयोजन का अनुसंधान करना धर्म-शास्त्र का विषय है; परन्तु विज्ञान अनिश्चितता के सिद्धांत के द्वारा किसी अंतिम प्रयोजन की घोषणा नहीं कर सकता है। मैं तो यह मानता हूँ कि सृष्टि स्वयं में एक प्रयोजन है, फिर उसके प्रयोजन का क्या तात्पर्य? इसी प्रकार मानव स्वयं अपना ही प्रयोजन है और ईश्वर भी अपना ही प्रयोजन है। विकासवादी धर्मशास्त्र "मानव अपना स्वयं ही प्रयोजन है" के प्रत्यय को एक तार्किक परिप्रेक्ष्य में रखता है क्योंकि विकासवाद 'मानव' को ही अपना प्रयोजन मानता है और चूँकि मानव नामधारी प्राणी के पास 'मन' का एक अत्यंत विकसित रूप प्राप्त होता है जो मानवेतर प्राणियों में अपेक्षाकृत कम विकसित है। विकास क्रम में, जहाँ एक ओर भौतिक संगठन का पारिमाजन हुआ है, वहीं दूसरी ओर 'मन' या चेतना का भी क्रमिक विकास हुआ है। यहाँ पर यह तथ्य भी प्रकट होता है कि द्रव्य या पदार्थ और मन या चेतना का विकास समानान्तर ही हुआ है अथवा द्रव्य ही मन है और मन ही द्रव्य है। पदार्थ और मन का द्वैत, आज के वैज्ञानिक-चिंतन में मान्य नहीं है और यह मान्यता धर्म और दर्शन के क्षेत्रों में भी उतनी ही स्वीकार्य है जितनी आधुनिक वैज्ञानिक-दर्शन में। पदार्थ और ऊर्जा, द्रव्य और मन, प्रकृति और पुरुष, शिव और शक्ति आदि युगल-रूपों में द्वैत के माध्यम से 'अद्वैत' की ही स्थापना होती है। विकासवादी धर्मशास्त्र इसी 'अद्वैत' को रूपायित करता है जो चेतना के क्रमिक आरोहण का रूप है। यही बात अवतारों के बारे में भी सत्य है जिसकी ओर प्रथम ही संकेत हो चुका है।

यहाँ पर एक अन्य स्थिति की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है मार्गन ने विकास-परम्परा के साथ दैवी-शक्ति की कल्पना की है। मार्गन एक जीव-विज्ञानी भी था और साथ ही, धार्मिक भावना से युक्त चिंतक भी। यही कारण है कि उसने विकास क्रम में एक दैवी-प्रयोजन देखा है।^१ उसका कहना है—“कभी-कभी ऐसा होता है कि विशिष्ट प्रकार से व्यवस्थित किए गए पदार्थों का संकलन एक नवीन गुण-धर्म को प्राप्त कर लेता है जो व्यक्तिगत रूप में उन पदार्थों में उपलब्ध नहीं होता है और न उन पदार्थों से 'उसका' निगमन ही किया जा सकता है।” यहाँ पर ऐसा लगता है कि मार्गन की 'दैवी-शक्ति' निरपेक्ष है क्योंकि वह पदार्थों की संगठना से अलग है

१ इमरजेंट एवोल्यूशन, लॉयड मार्गन, पृ० ५०

जबकि चेतना के क्रमिक विकास के साथ ही यह दैवी-प्रयोजन या शक्ति निहित है। दूसरे शब्दों में, चेतना ही दैवी शक्ति है जो अजैव से लेकर जैव-जगत तक एक क्रमिक गतिशीलता का परिचय देती है। अतः यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि विकास का प्रयोजन चेतना का क्रमिक विकास है जो दैवी-प्रयोजन का पर्याय है। यदि किसी को दैवी-प्रयोजन से आपत्ति है, तो मुझे विश्वास है कि 'चेतना' से उन्हें आपत्ति न होगी क्योंकि चेतना का विकास ही सृष्टि का आधार है। 'चेतना' के इसी स्वरूप का विश्लेषण मनोविज्ञान तथा दर्शन दोनों का विषय है और धर्म भी एक विशिष्ट मानवीय प्रक्रिया है जो 'चेतना' के स्वरूप तथा अर्थ-क्षेत्र को एक विशिष्ट संदर्भ देती है। भारतीय तथा पाश्चात्य मनोविज्ञान में एक विशिष्ट अंतर है। पाश्चात्य मनोविज्ञान केवल 'मन' की क्रियाओं तक ही सीमित है जबकि भारतीय मनोविज्ञान मन की क्रियाओं के अतिरिक्त मन से भी सूक्ष्म घरातलों का 'विज्ञान' है। दूसरे शब्दों में भारतीय मनोविज्ञान केवल मन तक ही सीमित नहीं है, पर वह मन से भी सूक्ष्म प्रत्ययों का आविष्कार कर सका है।^१ मन से भी परे मानवीय चेतना की विकास-शक्तियों को दिखाना भारतीय मनोविज्ञान का केंद्रबिन्दु है। यहाँ पर मन से सूक्ष्म प्राण है और प्राण से आत्मा सूक्ष्म है। इस प्रकार 'मन' या मानसिकता एक घरातलीय स्वरूप है पर इससे सूक्ष्म तथा गहन एक गुप्त एवं अव्यक्त 'शक्ति' है जो चेतना-शक्ति (दि फोर्स आफ कान्शेसनेस) के नाम से अभिहित है जो प्रकृति और विश्व की क्रियात्मक शक्ति है। महर्षि अरिर्विद ने चेतना-शक्ति को इसी क्रियात्मक शक्ति के रूप में स्वीकारा है^२ और जहाँ तक मैं समझ सका हूँ यह चेतना-शक्ति मानवीय और मानवेतर 'विश्व' में विभिन्न स्तरों के रूप में प्रकट होती है। धर्म और दर्शन इन्हीं स्तरों को उद्घाटित करता है और आधुनिक मनोविज्ञान और विकासवादी सिद्धांत भी मन के गहन-स्तरों के साक्षात्कार में गतिशील रहे हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की दो धाराएँ इस ओर गतिशील हैं—एक है अहं (Ego) की धारणा और दूसरी है पराअहं (Super Ego) की भावना जो कमशः मन से सूक्ष्म प्रत्ययों का स्वरूप है।

उपर्युक्त विश्लेषण के प्रकाश में यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति और उससे उद्भूत चिंतन की दिशाएँ 'धर्म' की अनेक प्रस्थापनाओं की पुष्टि भी करती है और दूसरी ओर, धार्मिक भावना और धर्मशास्त्र के सृष्टिविषयक सिद्धांतों को समझने के लिए एक व्यापक परिदृष्टि प्रस्तुत करती है। मानवीय 'ज्ञान' की परिसीमाएँ सापेक्षिक हैं, वे किसी भी दशा में निरपेक्ष नहीं हैं और धर्म को 'ज्ञान' का एक क्षेत्र मानकर ही उसके सही स्वरूप को जाना जा सकता है। किसी भी ज्ञान क्षेत्र को अंधविश्वास अथवा हठधर्मिता से नहीं समझा जा सकता है और विज्ञान और धर्म के सही सम्बन्ध को समझने के लिए उस हठधर्मिता को त्यागना अपेक्षित है।



१ हिंदू साइकोलोजी, स्वामी अखिलानन्द, पृ० १५

२ साइंस एण्ड कल्चर, श्री अरिर्विद, पृ० ४२

आचार्य प्रवृत्त अमिनन्द अर्थदुःखी आचार्य प्रवृत्त अमिनन्द अर्थदुःखी

